

देश विभाजन और सांप्रदायिकता : संदर्भ

दयामयी कथा

रंजना शर्मा,

सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, बेथुन कॉलेज

ranjanapresi@gmail.com

स्मृति शैली में लिखा गया उपन्यास 'दयामयी कथा' बांग्ला साहित्य जगत में एक नये प्रकार की आलोचनात्मक सौन्दर्य शास्त्रीय मानदंड की माँग करता है। देश विभाजन, सांप्रदायवाद और जात-पात के कुचक्र में फँसे लोगों का जीवन इस उपन्यास का उपजीव्य है और यह शायद एकमात्र ऐसा उपन्यास है, जहाँ देश विभाजन की त्रासदी को आपसी संघर्ष, वैमनस्य, हिंसा और सांप्रदायिक दंगे तथा रक्तपात से सने होने के बजाय प्रगाढ़ मानवीय संबंध और आन्तरिक प्रेम से बुना हुआ दिखाया गया है। उपन्यास का आरंभ ही उपन्यास का अंत है अर्थात् सम्पूर्ण कथानक, यहाँ तक कि बाद में आनंदबाजार पत्रिका के रविवासरीय अंक में प्रकाशित होने वाला 'दयामयी घरे फेरा' आदि पर्व में भी कथा कहने की योजना स्मृतिकरण से शुरू होती है। स्मृतिकरण यानि फ्लैश बैक की पद्धति विश्व साहित्य में पुरानी परंपरा है। रवीन्द्रनाथ ने भी 'घरे-बाइरे' उपन्यास में इस शिल्प को अपनाया था। यह साहित्य शिल्प परंपरा विश्व साहित्य में बहुत लोकप्रिय है।

'दयामयी कथा' में कथा योजना की सृष्टि कल्पना को आधार बनाकर नहीं किया गया है बल्कि दयामयी उर्फ काकोन उर्फ लेखिका सुनंदा सिकंदर के बचपन के भोगे हुए यथार्थ का सीधा-सीधा वर्णन है। लेखिका यहाँ स्वयं नैरेटर है। उपन्यास को सम्पूर्ण रूप से नैरेट करती हुई दयामयी कथा में प्रवेश करती है और शुरू होता है एक के बाद एक स्मृतियों के पट का खुलना। पूरे उपन्यास में बंध खुलते चले जाते हैं। जैसे जैसे पाठक इस बंध को खोलता हुआ आगे बढ़ता है वैसे वैसे उसकी तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि स्पष्ट और साफ होती जाती है। ऐसे समय में जब राजनैतिक दाँव-पेंच और अधिकार लिप्सा के कारण समस्याओं के समाधान के सारे रास्ते बंद होते जा रहे हैं तब इस कठिन समय में यह उपन्यास मानव जीवन के एक बहुत बड़े सत्य को लेकर सामने आता है और यह सत्य है मानवता का, प्रेम का, आपसी सौहार्द का तथा सांस्कृतिक एकता का। उपन्यास की संरचना छोटे-छोटे उपशीर्षकों में की गयी है, जिसमें दयामयी का समूचा बचपन का संसार अपने स्वाभाविक और विश्वसनीय रूप में जीवंत हो उठा है। सदियों से एक साथ, एक ही जगह में बसने वाले लोगों के हृदय तमाम विभिन्नताओं के बावजूद अनजाने में ही स्नेह के अदृश्य सूत्र में गूँथ जाते हैं और यह अहसास उन्हें तब तक नहीं होता, जब तक महासंकट की चरम घड़ी उपस्थित नहीं होती।

वास्तव में वर्तमान समय अपनी धार्मिक उन्मादना, सांप्रदायवादी ताकतों का आपसी संघर्ष तथा जात-पात के द्विनौने षड्यंत्र में फंसा हुआ है। ऐसे भीषण संकट के दौर में साहित्यकारों तथा बुद्धिजीवियों का सामाजिक सांस्कृतिक दायित्व और अधिक बढ़ जाता है। यहां लेखिका अपने सामाजिक सांस्कृतिक जिम्मेदारी को निभाते हुए अपनी मानसिक पीड़ा और दर्द को रचनात्मक रूप प्रदान किया है और देश विभाजन की जटिल एवं भयावह परिस्थितियों ने जिन पाठकों को छुआ तक नहीं उन पाठकों तक विभाजन की आतंकमयी परिस्थितियों से परिचित करवाने का बीड़ा उठाया है।

देश विभाजन और सांप्रदायिकता को केन्द्रीय कथानक बनाकर बांग्ला, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनेक उपन्यास लिखे गए हैं। अधिकांश उपन्यासों में समसामयिक राजनैतिक, सामाजिक विभीषिका और उससे उत्पन्न हुए परिस्थितियों का चित्रण है। जिसने न केवल समाज तथा राष्ट्र को लज्जित किया बल्कि मानवता को भी शर्मशार किया। इन उपन्यासों में जो समस्याएँ उभर कर आयी हैं वह मानवीय संबंधों और संवेदनाओं को पग-पग पर लांछित एवं लज्जित करती नजर आती है। पाठ के दौरान हृदय में उस कालखंड के प्रति अद्भूत प्रकार की वितृष्णा का जन्म होता है और उस नारकीय यंत्रणा से मुक्ति मार्ग तलाश करता है, जबकि 'दयामयी कथा' एक ऐसा उपन्यास है जो देश-विभाजन की त्रासदी और सांप्रदायिक शक्ति द्वारा सृष्ट नरक में भी मानवता का पाठ भूलता नहीं है। यह मानवीय संबंधों और संवेदनाओं को कुंठित करने के बजाय उन्हें और अधिक प्रगाढ़ता से जोड़ती है।

राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के अत्यधिक उग्र हो जाने पर इसे दमित करने के लिए और राष्ट्रीय राजनेताओं का उद्देश्य विफल करने के लिए उनके सामने अलग-अलग कौम का एजेंडा रखा गया। कौमी पहचान को परिपक्व आधार देने के लिए भाषा तथा सांप्रदायगत मनोभावों को तुल दिया गया और स्वाधीनता संग्राम के समानांतर भारत विभाजन को भी एक महत्वपूर्ण एजेंडा के रूप में सामने लाया गया। अंततः भाषा और सांप्रदायगत मनोभावों को उस नाजुक दौर में इतनी हवा मिली कि अखंड भारत विभाजन के कगार पर जा खड़ा हुआ। ऐसा लगा कि देश विभाजन से सारी समस्याओं का अंत हो जायेगा पर वास्तविकता तो यह है कि विभाजन के बाद दोनों देशों की आंतरिक समस्याएँ और भी बढ़ गयीं।

लेखिका ने अपने बचपन के दस वर्ष अर्थात् 1951 से 1961 तक के समय को उपन्यास का केन्द्र बिन्दु बनाया है। इस समय हिन्दुस्तान का विभाजन हो चुका है तथा पाकिस्तान इसका कटा हुआ अंग है और एक घोषित मुस्लिम राष्ट्र। वहाँ की भाषा उर्दू मान ली गयी है। पर पूर्वी पाकिस्तान के रूप में (वर्तमान बांग्लादेश) भारत का जो अंग बँटा है वहाँ के मुसलमान बांग्ला बोलते हैं। पश्चिम बंगाल और असम में भी यह भाषा बोली जाती है। यद्यपि भाषा का बंटवारा नहीं हुआ फिर भी भाषा के स्तर पर उर्दू और बांग्ला में आपसी विवाद वाजिब है। परन्तु उपन्यास का केन्द्रीय विषय भाषा समस्या नहीं है। उपन्यास की सबसे बड़ी समस्या आपसी Settlement का है। पूर्वी पाकिस्तान के हिंदूओं को हिन्दुस्तान आना है और हिन्दुस्तान के मुसलमानों को पाकिस्तान जाना है। राजनीतिक उद्येश्य से किया गया इस बंटवारे ने आम आदमी के जीवन को तहस-नहस कर डाला। इसका जीता जागता उदाहरण लेखिका की बुआ बूढ़ी

Heritage

है और स्वयं लेखिका उर्फ दया है। राजनीतिक बंटवारे से भौगोलिक सीमायें बँट गयी, तहजीब के नाम पर वतन बँट गया पर मानवता नहीं बँट पायी, प्यार न बँट पाया, वर्षों से एक दूसरे के साथ बिताये हुए वे दिन जिसमें प्रेम है, भाईचारा है, आपसी सौहार्द्र है उसे राजनीतिक, धार्मिक स्वार्थ और सरोकार से किया गया बंटवारा न बँट सकी। मानवीय संबंधों तथा संवेदनाओं को राजनीतिक, धार्मिक कुचक्रों के प्रहार ने किस कदर प्रभावित किया उसे नहीं दया अपने बचपन में ही जान गई थी। अपने आस-पास के प्रतिवेशी और पड़ोसियों से उसके नन्हें मन ने जान लिया था कि कोई चीज है जो आस-पास तेजी बदल रही है।

लेखिका की स्वीकारोक्ति में नहीं दया स्मरण करती हुई कहती है, “मेरी पालिका मां (बुआ) की बातें मेरे लिए नियति के वाक्य थे। दया, मत भूलना की माजम हमारा चरवाहा (कामला) है, मुसलमान का लड़का है। गाय-बछड़ा, खेल-खलिहान देखने वाला आदमी। हमारे रक्त के सम्पर्क का कोई नहीं। उससे ज्यादा मेल-जोल बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है।”¹ नहीं दया को उसकी पालिका मां की बातें बड़ी सहजता से समझ में आ गयी पर बाल मन की सहज वृत्ति इस नकार की स्थिति को कभी स्वीकार न कर सकी। सहज साहचर्य से जो संबंध माजम, आजम और दया के बीच पनपता है वह संबंध जीवन काल तक खत्म नहीं होता। यह उपन्यास उन्हीं निश्चल मानवीय सहज संबंधों की फलप्रसूति है।

“मेरे पास दादा की मौत की खबर हवा ले आई मेरे सीने के भीतर जो वेदना का पहाड़ छुपा हुआ था वह क्रमशः नीचे खिसकने लगा समझ गयी कि गुरुत्वाकर्षण के परिणामस्वरूप वेदना का यह पहाड़ गल रहा था। तीस साल से जो रूदन जमकर बर्फ हो गया था, और जिसका मैं भी खबर न रखती थी, आज वही रूदन स्रोते के भांति फूटकर बाहर चला आ रहा है।”² इतने सालों तक जो कुछ अनुच्चारित था आज लेखनी के प्रवाह में वह गतिमान हो उठा।

1971 में बांग्लादेश स्वाधीन हुआ। स्वाधीनता के बाद एक दिन अप्रत्याशित रूप में दादा की चिट्ठी मिली। निरक्षर दादा ने किसी से लिखवाया था “आमरा बाँचिया आछि। पथेर खरच जुटाइते पारिले एक बार तोर मुख खाना देखिया आसिबो”³ (अर्थात् हमलोग जिंदा हैं, अगर राह खर्च जुटा पाया तो एक बार तुम्हारा मुँह देख आऊँगा।) कितना फक्कड़ाना अंदाज था दरिद्र दादा का। माजम शेख एक किसान है जिसके पास अपनी इंच भर भी जमीन नहीं है। हल और गाय जिसका सम्बल है। वह अपनी गाय बेचकर हिन्दुस्तान अपने गैर मुसलमान बहन को देखने भर आयेगा और विड़म्बना यह कि बोलने वालों ने यहां तक कहा कि ‘जरूर किसी खास मतलब से तुमसे मिलने आया है।’

कथा की शुरुआत इन्हीं मार्मिक उक्तियों से होती है। इसके उपरांत दया के संसार के सारे स्मृति चित्र सजीव हो उठते हैं। स्मृति के इस संसार में असंख्य पात्र हैं जो उपन्यास के कथानक को घेरे हुए हैं। सभी ऊष्म और मानवीय संबंधों से गुंथे हुए हैं। सांप्रदायिकता और भारत विभाजन को केन्द्रीय कथानक बनाकर लिखा गया यह शायद पहला उपन्यास है जहां विघटन में भी ऊष्मता है, रिशतों की गरमाहट है।

तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान, आज का बांग्लादेश का एक छोटा सा गाँव दिघपाईत, जो पूर्वी पाकिस्तान के अन्य गाँवों सोनाटिया, सोनाटुली, हरिद्राटा, छाईतानि की तरह ही है। वंश नदी के किनारे बसा दिघपाईत गाँव जंगलों से घिरा है। यही है दिघपाईत जहां दयामयी का बचपन गुजरता है। सालों साल से एक साथ रहने वाले दिघपाईत के हिन्दू मुसलमानों के झूने भर से चले जाने की संभावना है इसलिए दया को पालिका मां यह निर्देश देती है कि वह न तो किसी मुसलमान के घर का पका हुआ खाना खाये और न ही पानी पीये। हाँ, अगर फल-मूल देते हैं तो वह खा सकती है, क्योंकि वह कच्चा खाना होता है। जात-पात के ऐसे ही बंधन छोटी दया पर उसकी पालिका मां ने बचपन से ही थोप दिया था। परन्तु आश्चर्य यह है कि इसके बावजूद वे एक दूसरे के पड़ासी हैं, एक दूसरे के दुःख सुख के साथी। पर इन सबके बीच एक बात नहीं दया काफी गहराई से महसूस कर रही थी वह था “और एक बात मैं समझ रही थी, जिसके बारे में मुझे किसी ने कुछ नहीं बताया। मेरे चारों ओर की अस्थिरता, चारों ओर का दृश्य बहुत जल्दी बदल रहा था। जब मैं केवल दरवाजा लाँघकर चौखट पार करके आँगन में उतरना सीखी थी, तभी देख था सामने पलूदा का मकान कितना जल्दी खाली हो गया। वे लोग चले गए बैलगाड़ी में बर्तन बासन, कटहल की लकड़ी के बने पीठे, चिउड़े की पोटली, ट्रंक, दरी में बंधे बिस्तर। ऐसा ही, एक ही दृश्य जब पिछवाड़े के कनाई बलाई चले गए और सुनती रही लगातार रोने पिटने की आवाज। हरिद्राटा से सादिकाका, सोनटिया से इयेद अलि काका, चले जा रहे लोगों के साथ अन्तिम बार मिलने आते हैं। जो भी गाँव छोड़ता था वही हमारे घर के सामने के रास्ते से गुजरता था। कोई आँसू पोंछता हुआ जाता तो कोई विलाप करते हुए जाता और कहता जाता हम सदा के लिए जा रहे हैं अगर कोई अपराध हमसे हो गया हो तो ‘हमें माफ करना’। रास्ते के किनारे खड़ी होकर मैं यह दृश्य प्रायः देखा करती थी। चले गए विश्वास बाड़ी की दादीमाँ, घोष बाड़ी की खुकी बुआ, चौदह गंडा की बड़ी माँ। जाने के समय वे चित्कार करते हुए रोते और बोलते जा रहे थे, ओ बूड़ी, जिन्दगी भर के लिए जा रही हूँ, गाँववालों के संग तो और कभी मुलाकात न होगी, हिन्दुस्तान आने पर तुम जरूर मिलना।”⁴ पर तब किसे यह मालूम था कि हिन्दुस्तान कोई दिघपाईत या सोनटिया नहीं है। दया कहती है- “जब बाद में हिन्दुस्तान चली आई तो किसी के संग और मुलाकात न हो सका। दरअसल तब तो यह नहीं जानती थी कि हिन्दुस्तान इतनी बड़ी जगह है। यहां किसी को ढूँढकर नहीं मिलता”⁵ वास्तव में शरणार्थी के रूप में जो पाकिस्तान से भारत आये वे व्यापार, वाणिज्य या कृषि के उद्देश्य से जगह जगह तितर बितर हो गए उनके साथ कभी मुलाकात न हो पाना ही स्वाभाविक था।

देश विभाजन का मूल कारण राजनैतिक था, परन्तु विभाजन से सांप्रदायिक मसलों को बढ़ावा मिला। जात-पात का जकड़न पहले से और अधिक मजबूत हुआ। धर्म के नाम पर दंगे हुए परिणामस्वरूप धार्मिक संवेदनशीलता बड़ी। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर धार्मिक उन्मादना की सृष्टि एवं वृद्धि हुई। प्रश्न यह उठता है कि आखिर इन बातों से लाभ किन्हें पहुँचना है वे जो सीधे-सादे तरीके से जीवन यापन करने के हामी हैं या वे जो दिन भर की हाड़ तोड़ मेहनत को ही अपना कर्म तथा धर्म मानते हैं या उन्हें जो धर्म तथा जात-पात के आड़ में अपना उल्लू सीधा करते हैं। दया के संसार में इन प्रश्नों का कोई उत्तर न था। दया के संसार में ऐसे प्रश्नों का उत्तर साधारण तौर पर जीवन यापन करने की शैली में ही मिलते हैं। दयामयी का संसार से पहला साक्षात्कार उसके माजम दादा (भैया) के संग होता है। दादा के कंधे पर बैठकर दुनिया जहान घूमता और दुनिया की बातें करना। सरल सच्चे मन का माजम शेख दया को वही सीखाता है जो उसकी समझ में आता है। “काका कहते हैं—पहले मनुष्य आया है, बाद में धर्म आया। धर्म, जात-पात सब मनुष्य ने बनाया है।”⁶

Heritage

आम मेहनतकश आदमी अपने धर्म, अपने जात-पात के प्रति न सजग होता है और न संकीर्ण। उसके पास धर्म, जात-पात सब बड़े लोगों, रईसजादों का ढोंग है जिसे वही लोग ढो सकते हैं। आम आदमी को तो बस अपनी मेहनत से रोटी कमाने के आलावा कुछ और नहीं सुझता। इसलिए वह न तो धर्म के प्रति सचेत होता है और न ही जात-पात के प्रति जागरूक। वैसे तो दयामयी का गाँव दिघपाईत, धर्म और जात-पात के प्रति काफी सजग है पर यह विचारणीय है कि उनके यहां धर्म का स्वरूप क्या है? जात-पात की अहमियत क्या है?

गाँव में धान झाड़ने के मौसम में दयामयी के घर गाँव की स्त्रियाँ धान झाड़ने आती थी। उसमें राधियादी, झूमियादी मां को झाँसा देकर थोड़ा बहुत धान हटा लिया करती थी, जिसे देखकर दयामयी का बाल मन में स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है और वह कहती है कि 'कोई देखे या न देखे आकाश से भगवान तो देख रहे हैं।' इसके प्रत्युत्तर में राधियादी, झूमियादी जिस इतिहास का वर्णन करती है उससे पाठक का मन करुणा से भर उठता है। वह कहती है - 'दया, मेरे दादाजी के पिता पेट के कारण बहुत साल पहले दरभंगा जिला छोड़ चुके थे। तब से हमारा जात, धर्म सब जाता रहा और अब जो है वह केवल बने रहने का धर्म है। अगर प्राण से हम बच न पाये तो धर्म लेकर क्या करेंगे? जात से भी क्या होगा? हम हिन्दू हैं, सिन्दूर पहनते हैं, घर में गणेश लक्ष्मी की मूर्ति है पर जात क्या है नहीं जानते हैं। जिस साल अकाल पड़ा उस साल मेरे ससुर मुसलमान के घर का माड़ पीकर अपने आप को बचाया था।'⁷

जात के संदर्भ में एक दूसरा पहलू भी उभरकर सामने आता है जिसमें गाँव के एक वर्ग के लोग जात चले जाने के प्रति अत्यन्त सजग है। 'माँ के संबंध में सिराज दा एक बात बोलते हैं, 'तुम्हारी बुआ कुछ कम नहीं है, इतने सालों से हमारे साथ तुमलोगों का सम्पर्क है, तब भी तुमलोगों को छूने से तुम्हारी जात चली जाती है। दया तो एक छोटी लड़की है, उसे किसी के संग मिलने जुलने नहीं देते हो। तुमलोगों का सब कुछ खाक हो गया, अब देश भी छोड़ेंगे, पर तुमलोगों ने अपनी जिद्द को मिटने न दिया।' सिराज दा कहता है, 'गुस्सा मत करना बुआ, मैं जानता हूँ तुम मुझे कितना स्नेह करती हो, पर कभी एक गिलास पानी तक के लिए तुमने मुझे नहीं पूछा, क्या मुझे दुःख नहीं होता।'⁸

इसी तरह की बात दिघपाईत स्कूल में धर्म परीक्षा के संदर्भ में भी घटता है। दया कहती है एक बार दिघपाईत गाँव के स्कूल में धर्म परीक्षा होता है कि धर्म के विषय में कौन कितना जानता है इसकी परीक्षा होगी। हर किसी ने कहा गाँव के पुरोहित पचा काका का बेटा कानू प्रथम आयेगा या मौलवी साहब का बेटा जमीरुद्दीन इस प्रतियोगिता में जीतेगा, पर पता नहीं कैसे मैं प्रथम आ गयी। जिसने भी सुना उसने कहा कानू और जमीरुद्दीन ने तो अपने-अपने धर्म को बड़ा करके प्रस्तुत किया था पर दया ने किसी भी धर्म को छोटा नहीं किया। दया ने सभी धर्मों की अच्छाईयों को लेकर धर्म की व्याख्या की। असल में धर्म के बारे में मैं जो कुछ जानती हूँ यह इयेद अलि काका और सोबहान दादा से जान पाई हूँ। इयेद अलि काका ने मुझसे कहा था, 'इस्लाम का अर्थ शान्ति होता है, जो मनुष्य की शान्ति नष्ट करते हैं, वह कभी भी सच्चा मुसलमान नहीं हो सकता। सभी मनुष्य को समान भाव से नहीं देखने वाला या स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार नहीं देने वाला मुसलमान हो ही नहीं सकता। और काका ने मुझे बताया था बुद्ध नामक एक व्यक्ति की बात। ढाई हजार साल पहले उनका जन्म एक राज परिवार में हुआ था। उनका नाम गौतम था। राजा के घर में जन्म लेकर भी साधारण मनुष्य का दुःख देखकर उनका मन राजप्रासाद में नहीं लगा और वे सन्यासी बनकर मनुष्य को प्रेम करने का मंत्र देने निकल पड़े।'

वास्तव में उनका धर्म आपसी संघर्ष का धर्म न था न ही संकीर्णताओं का ही धर्म था, इस लिए वे धर्म को इतना व्यापक रूप में देख रहे थे। जीवन के बाद एक और जीवन। जीवन अफुरन्त है जीवन के मूल में एक अकारण आनंद है। इसीलिए शायद आधा पेट खाया हुआ व्यक्ति या भूखा व्यक्ति भी हंसता है। इतने विधि निषेध के बाद भी मनुष्य के पास आकर मनुष्य ही खड़ा होता है तब वह भूल जाता है जात-पात का व्यवधान। दरअसल मनुष्य के संग मनुष्य का आत्मीय लगाव अनेक गंभीर रूप में जुड़ा हुआ है।⁹

तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान का दिघपाईत गाँव अपने आंतरिक संरचना में निश्चल मानवता, बंधुत्व और भाईचारा का डोर थामे दिन गुजार रहा था। ऊपरी दृष्टि से देखने पर जात-पात और धर्म के जटिल नियम दिखाई दे रहे थे पर अपने आंतरिक संरचना में सारी जटिलताओं, सारी विषमताएँ सारा विभेद शून्य के बराबर था। सभी एक दूसरे के दुःख सुख में शरीक थे। खून का संबंध न होने पर भी एक दूसरे के लिए जान लड़ा देने तक को राजी थे। इसका सबसे प्रमुख कारण हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच की एकता की भावना। वे हिन्दू मुसलमान दो संप्रदाय, दो धर्म में बंटे जरूर थे पर कहीं उनमें सघन आंतरिकता भी थी। दिघपाईत गाँव एक ऐसा गाँव है जहाँ कभी दंगा नहीं हुआ और न ही इन्हें दंगे की मार झेलनी पड़ी। इनके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में ही इन्हें इतना वक्त लगा जाता था कि उसके बाद रोज खटकर खाने-पहनने वाले लोगों को फिसाद की न सुझती थी। इसलिये विभाजन के जिन त्रासद स्थितियों का सामना देश के दूसरे प्रांतों के लोग कर रहे थे, उससे दिघपाईत गाँव अछूता था। इसका दर्द दूसरा था, वह दर्द था अपनों से बिलुड़ने का दर्द। हिन्दू लोग तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान छोड़कर हिन्दुस्तान आ रहे थे वैसे ही बंगाल के मुसलमान तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान जा रहे थे? दो मजहबों का यह आपसी *Settlement* था। पर गौरतलब यह है कि इससे खुश कौन था। किसे सबसे अधिक लाभ हो रहा था? मजहब के नाम पर हिन्दू-मुसलमान को बाँटकर उन्हें लाव-लशकर के साथ एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर रखा गया। नये परिवेश में उनपर क्या कुछ गुजरेगा किसी ने नहीं सोचा। बस एक आदेशनामा, बस एक समय सीमा और राय दे दी गई। सोचा सब कुछ ठीक हो जायेगा। जिन्हें न तो फेर बदल करना पड़ा न जमीनी लड़ाई लड़नी पड़ी। न तो उन्हें परिवार को भूखे पेट दिन गुजारते देखना पड़ा और न ही अपने आत्मीय परिजनों मुल्क के बंटवारे की घोषणा कर ही। इस बंटवारे में पेड़-पौधों की तरह इंसान पर भी ग्राफिटिंग कला अपनाई गयी। नये आबोहवा में, नये परिवेश में नये सिरे से फलने फूलने के लिए मजबूर किया गया। अपने-अपने मुल्क में पहुँचकर भी वर्षों अजनबीयत के शिकार रहें, सालों शरणार्थी शिविरों में रहें और बाद में 'रिफ्यूजी' के नाम से जाने गए।

'दयामयी कथा' में रिफ्यूजी जीवन की त्रासदी एक अन्य आयाम के साथ प्रस्तुत हुआ है। दयामयी के गाँव में हिन्दुस्तान के कूचबिहार से अधिकांश रिफ्यूजी पहुंचे, वहाँ पहुँचकर इन मुसलमान रिफ्यूजियों को कितने प्रकार की सामाजिक आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा इसका वर्णन किया गया है। पूर्वी पाकिस्तान पहुँचने पर अपना देश था पर बेगाना था अपने लोग थे पर बेगाने थे। ऐसी ही विषम परिस्थिति में उन्हें अपने देश में ही रोजगार की तलाश में भूखें रहने की नौबत आ गयी थी। गाँव के लोग उन्हें अपने दैनिक घरेलू काम के लिए भी नहीं बुलाते थे। किसी प्रकार के सामूहिक खान-पान के आयोजन

Heritage

से भी उन्हें दूर रखा जाता था क्योंकि वे रिफ्यूजी थे। “जो गाँव में आते थे वे नये थे सभी कूचबिहार से आते थे और जमीन अदला बदली करके आते थे। माँ उन्हें ‘काका’ कहने नहीं देती थी मुझे उन्हें चाचा कहना सीखाती थी।¹⁰ माँ खेदपूर्वक कहती, ‘गाँव के हिन्दू सब चले गए, हिन्दुओं के पास ही तो जमीन जायदाद थी, पैसा-कौड़ी, शौक फरमाइश था। एक हिन्दू की जमीन पांच मुसलमान मिलकर भी नहीं खरीद पाये। ‘रिपूजी’ को देखती नहीं क्या ये ईद में एक गमछा भी खरीद पाते हैं? सब लंगोटी पहनने वाले जात हैं।¹¹ “माँ को एक तो मुसलमान दूसरे ‘रिपूजी’ होने पर बड़ा क्रोध था। वे किसी भी तरह से गाँव के भूमिपुत्र मुसलमानों की तुलना ‘रिपूजी’ मुसलमानों से करने को राजी न थी, पर उन्हें क्या पता था कि हिन्दुस्तान में उन्हें भी ‘रिपूजी’ ही बुलाया जायेगा। क्या पता वहाँ के लोग ऐसी ही मंशा उनके लिए रखें, पर इन सब से अनजान माँ अपने गाँव में बाहर से आने वाले मुसलमानों से चिढ़ी हुई थी।

इधर गाँव के हिन्दू मुस्लिम जनता के बीच एक सवाल बार-बार उठ रहा था कि “जवाहर लाल नेहरू और आयूब खान के सम्पर्क कैसे बनते हैं। इसको लेकर माँ की अनेक चिन्ताएँ थी। गाँव के दूसरे लोग भी चाहते थे कि अगर उन दोनों के बीच अच्छे सम्पर्क बनते हैं तो उससे हो सकता है कि पासपोर्ट वीजा (Visa) का झमेला खत्म हो जायेगा। इससे दोनों देशों के बीच यातायात सहज हो जायेगा। मुसलमानों में अनेक की इच्छा अजमेर शरीफ देखने की है, वहीं जो हिन्दू पूर्व बंगाल में ही रह जायेंगे उनकी भी इच्छा कालीघाट, दक्षिणेश्वर, काशी, मथुरा, वृंदावन देखने की होगी। इसके लिए जो दो देशों के सिरमौर हैं उनमें अगर प्रेम नहीं होगा तब तो पासपोर्ट वीजा का झंझट उठेगा ही नहीं।¹²

माँ इन सब का कारण इंसान को ही मानती है क्योंकि इंसान के भीतर भगवान भी है तो शैतान भी। जब जो इंसान पर हावी रहता है तब वह उस प्रकार का काम करता है। सत्तर वर्षीय माँ आपनी अंखों से दंगा देख चुकी है, दुःखी हुई है, पर मनुष्य के प्रति अपना विश्वास नहीं खोया है। दंगा का प्रसंग आने पर कहती है, “समझी दया, बीच बीच में ऐसा समय आता है, जब आदमी के भीतर का शैतान जाग उठता है, तब उसे सुलाया नहीं जा सकता, जबकि अधिकांश समय इंसान के भीतर भगवान ही जगा रहता है। इसीलिए देखती नहीं आदमी आदमी से कितना प्यार करता है।¹³

दिघपाईत गाँव में प्यार का अभाव कभी न था। संक्रमण के उस भयानक दौर में भी जब माँ जानती है कि कुछ ही सालों में उन्हें हिन्दुस्तान चले जाना है, तब भी दिघपाईत के प्रति, वहाँ के लोगों के प्रति, वैसा ही प्रेम, वैसी ही सदभावना महसूस करती है। आदमी-आदमी को प्यार करेगा यहीं सबसे बड़ी सच्चाई है, सबसे बड़ी आदमियत है। बाकी दंगे-फसाद, लड़ाई-झगड़े तो अंदर के उस शैतान के कारण हैं।

वस्तुतः ‘दयामयी कथा’ विभाजन के दुःख की कथा है। पूर्वी पाकिस्तान वर्तमान बांग्लादेश का एक अज्ञात अख्यात गाँव दिघपाईत विभाजन की सबसे बड़ी मानवीय त्रासदी को प्रस्तुत करता है। यह त्रासदी है क्रमशः शरणार्थी बनने की त्रासदी। एक भूखंड पर इंसान पैदा होता है, उसे परिवार, समाज, देश, संस्कृति, रीति-रिवाज, संस्कार, भाषा, अन्न-जल सब कुछ उसी भू-खण्ड से मिलता है। सदियों से प्रवाहित परंपरा का वह उत्तराधिकारी और वाहक बनता है। वह भू-खण्ड उसका पालन पोषण करने वाली माँ होती है। वह उसमें बसता है और वह उसमें बसती है। कड़ी मेहनत करके वह छोटा सा घर भी बनाता है। खेत जोतता है, अपने परिवार की परवरिश करता है और अपने तथा बच्चों के भविष्य को सँवरने की चिंता में मग्न रहता है कि अचानक एक दिन उसे बताया जाता है कि वह उसका देश नहीं है। यह भू-खण्ड, यह प्रकृति, नदी-नाले, जंगल, खेत, खलिहान, घर-बार यहाँ तक कि पशु भी उसके नहीं हैं, क्योंकि उसका धर्म भिन्न है। अलग-अलग धर्म के लोगों के लिए अलग-अलग देश बन गया है। उन्हें एक ऐसे देश में चले जाना पड़ेगा, जिसे वे जानते तक नहीं हैं। जहाँ के लोग उन्हें अपनाएँगे या नहीं, यह भी नहीं मालूम। इसी दर्द के साथ वह प्रस्थान करता है एक नये देश में अजनबीयत ढोने के लिए, विभाजित होकर जीने के लिए। विभाजन का अर्थ ही है छिन्नमूल होना, छिन्नमूल होने का दर्द सहना और छिन्नमूल बन कर संघर्ष करना।

दयामयी जब भारत अपने जन्मदात्री माँ के पास आती है तो अपना सारा बचपन दिघपाईत में छोड़ आती है। दस वर्षीय बालिका दया का बचपन छिन्न जाने का दर्द लेखिका ‘दयामयी घरे फेरा’ में प्रकारान्त से जारी रखती है। जिसके बचपन का सारा समय प्रकृति और परिवेश से सीखने में बीता उसे तथा उसकी पालिका माँ को हिन्दुस्तान के भिन्न परिवेश के संग अपना तादात्म्य स्थापित करना पड़ता है। अजनबीपन के इस दौर में माँ अर्थात् बुआ लौकी के बीज गमले में लगाकर बड़ा करती है और जब लत्तर से लौकी उतारती है तो उसे आस पास के मुहल्लेवालों को बाँटकर परितृप्त होती है। पालिका माँ ने परिस्थितियों से समझौता करना अपने पन्द्रह वर्ष के उम्र में, विधवा जीवन के शुरुआत से ही सीख लिया था। और अब दिघपाईत गाँव को अपनी स्मृतियों में दफनाकर एक अनकहा समझौता अपनी बेटी के साथ करती है।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 11;
2. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 9;
3. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 10;
4. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 19;
5. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 19;
6. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 90;
7. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 26;
8. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 28;
9. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 88;
10. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 10;
11. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 29;
12. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 27;
13. सिकदार, सुनंदा (2008), दयामयी कथा, कोलकाता, गांगचिल। पृ - 35;